

## आधुनिक परिप्रेक्ष में हरियाणा की कला एवं संस्कृति

डा. सुदर्शन राठी

ऐसोशिएट प्रोफेसर हिन्दी, महाराजा अग्रसेन महिला महाविद्यालय, झज्जर, हरियाणा, भारत।

### प्रस्तावना

हरियाणा एक नया राज्य है, पर न इसकी भूमि नयी है, न ही भाषा, न ही इसका जन चित नया है न ही यहाँ के कला-कौशल। देश का यह भूमिखण्ड तो सम्भवतः वह भूमिखण्ड है जहाँ आर्यावर्त ने धर्म-दर्शन-राजनीति की दृष्टि से अपना आकार ग्रहण किया था। वेदों की रचना, पुराणों की प्रणयन, महाभारत का निर्णायक युद्ध, ये सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक मीलस्तम्भ इसी धरती पर रोपित हुए थे, जिस धरती को आज हरियाणा के नाम से भारत का एक नया प्रान्त बनाया गया है, भारत भर में इसकी अपनी एक व्यक्त-अव्यक्त पहचान मौजूद है। यहाँ का किसान, यहाँ का सैनिक, यहाँ की दुधारू गाय व यहाँ का अक्खड़ ग्रामीण देश भर में प्रसिद्ध है। इस भूखण्ड की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति है, जो परिष्कार, औपचारिकता ओढ़ी हुई विशिष्टता से दूर रह कर जीवन को उसके आदिम, शुद्ध, ताजे रूप में जीने की कायल है जो खुले मन से हंसी उट्टा करती है, जान हथेली पर रख सेना में जाकर वीरता पूर्वक लड़ती है, अपने खेतों-पशुओं-हुक्के से बेपनाह प्यार करती है और पंचायत बिरादरी-धर्म, गऊमाता गाँव-देश के नाम पर जान देने में तनिक भी संकोच नहीं करती। "इस संस्कृति ने जीवट वाले, हंसने खेलने वाले, जीवन को पूरे आनन्द से, रस लेकर जीने वाले व अपनी 'वित' (तीखी बुद्धि) से दुनियाँ को अभिभूत करने वाले जन उत्पन्न किए हैं। ये जन दरबारी शिष्टाचार के स्थान पर खेत-खलिहान की अखाड़ों को मिट्टी सनी पसीने में नहाई-सहयोगी-सौंझी-सामुदायिक जीवन-शैली को मान देते हैं। यमुना और घग्घर नदी के बीच के इस प्रदेश का जीवन प्राचीन आर्यकालीन जीवन के निकटतम है।"<sup>1</sup>

संस्कृति एवं जीवन-शैली की अभिव्यक्ति कला-साहित्य-परम्पराओं विश्वासों में हुआ करती है। इन सबका माध्यम होती है भाषा। किसी भी जन समुदाय की पहचान उसकी भाषा से होती है, जिसे जनभाषा, आंचलिक भाषा अथवा मातृभाषा कहा जाता है। भाषा में शब्दों की गढ़न, वाक्यों का गठन, अभिव्यक्ति की मुद्राएं, प्रतीकों-अप्रस्तुतों का प्रयोग, श्रोता को सम्बोधन करने की भंगिमा उनके जीवन-सत्यों में से उभरती है। लोकोक्तियों का निर्माण, मुहावरों का प्रयोग व उदाहरणों-दृष्टान्तों का व्यवहार जहाँ एक भाषा की प्रकृति को स्पष्ट करते हैं, वही भाषा भाषियों के मानसिक जगत का भी दर्शन कराते हैं, इन्हीं तत्वों के आधार पर कोई भाषा मधुर होती है, कोई कोमल, कोई तीखी, अक्खड़ और कोई अनगढ़। भाषा अपने आप नहीं बनती, उसे वक्ताजन समुदाय बनाता है, अपने अनरूप ही उसका विश्वास करता है तथा अपने जीवन व्यापार के लिए उसका प्रयोग करता है।

"अपनी अलग सांस्कृतिक अस्मिता के आधार पर ही एक नवम्बर, उन्नीस सौ छिंसासठ को वर्तमान हरियाणा का जन्म हुआ। तब से लेकर अब तक इस प्रदेश ने बेहद चहुंमुखी उन्नति की है, जिससे यह देश के खुशहाल प्रांतों की अग्रिम पंक्ति में आ खड़ा हुआ है। इसका सबूत यह है कि सन् 1966 से 2003 तक साक्षरता की दर 26.9 से 68.59 प्रतिशत, प्रति व्यक्ति आय 343 रुपये से 14331

रुपये, खाद्यान्न उत्पादन 25.92 से 133.01, ट्रैक्टर की संख्या 4800 से 2,16,220, चीनी मिल 2 से 14 और निर्यात 4.50 करोड़ रुपये से 8000 करोड़ तक हो गया है। इतना भौतिक विकास तो हुआ लेकिन यहाँ के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में बेहद बदलाव आया है।"<sup>2</sup>

हरियाणा बनने के एक दशक बाद तक भी घर में मेहमान आते ही झट से आ जाता था दूध से भरा बड़ा लोटा और ऐंढी वाला बड़ा गिलास। भोजन के समय मेहमान की थाली में बूरा और घी बहते फिरते थे। अब तो सब कुछ उपभोक्तावाद, उपयोगितावाद और बाजारवाद की भेंट चढ़ चुका है। 'दूध बेच दिया, इसा पूत बेच दिया' की लोक मान्यता को दर किनार कर धड़ाधड़ दूध बेचा-खरीदा जा रहा है। यही कारण है कि मेहमान आते ही प्रस्तुत किया जाता है हलक को फूंकने वाला चाय का एक प्याला। खांड-बूरा ओर घी के स्थान पर परोसी जाती है 'लाल परी'। छलकते हैं जाम, टकराते हैं प्याले।

भगवान से भूरी भैंस का दूध और 'राबड़ी' मांग कर सन्तुष्ट होने वाले कृषक तथा नये चांद को 'राम-राम' करके दूध-दलिया मांगने वाले भोले कृषक-बालक भी अब सुबह उठते ही 'अध बिलोई दही' के स्थान पर गर्म-गर्म चाय पीकर टाइगर जैसा बनने के सपने देखने लगे हैं। निरामिष भोजन करने वाले यहाँ के लोग भी अब 'संडे हो या मंडे' की तर्ज पर 'भुजिया' और 'आमलेट' खाकर उकार लेने लगे हैं।<sup>3</sup>

हरियाणा का 'जनवेश' भी लगभग बदल चुका है। पुरुषों के परिधान की 'पगड़ी', कमरबंध, कमर की धोती, शरीर का कुर्ता, कंधों की चद्दर और पैरों की जूतियाँ लुप्त होती जा रही हैं। 'पेंट, जींस, टी-शर्ट, कमीज' और विविध प्रकार के जूते इनका स्थान लेते जा रहे हैं। उधर, स्त्री परिधान में 'दामन, घाघरा,खारा, लेह, आंगी, ओढ़नी, चूदड़ी, लहरिया, कंध, सोपली' आदि का स्थान सलवार कमीज, सूट, साड़ी-ब्लाउज, वायल दुपट्टे, सैंडल चप्पलों ने ले लिया है। महिलाओं के पारम्परिक आभूषण भी लुप्त हो चुके हैं।

लोक गीतों में वस्त्राभूषणों की मांग करने वाली, केवल गृह एवं कृषि कार्यों को महत्त्व देने वाली, मुंह अंधेरे उठकर 'चाक्की झोने' वाली, सजधज कर पनघट से पानी लाने वाली, रात-रात भर जागकर सरातिया गाने वाली, पूरा दिन चरखा कातने वाली, कसीदाकारी करती, चूदड़ी पर सितारे लगाती, किरोशिये से 'बिझोंडी' बनाती, दिन भर 'लामणी' करती, 'दूस्सर-तिस्सर' ले जाने की तैयारी करती, हरियाणवी ललनाएं अब कहीं दिखाई नहीं देती।

जाने कहां खो गई है सावन के झूले पर झूलने वाली, 'सासू जी' का नाक तोड़ने वाली, फागुन के चकर चुंडे पर घूमने वाली, तारों की छाया में कार्तिक स्नान करने वाली, पथवारी पर सुमधुर गीत गाने वाली, सांझी मैया को आरती उतारने वाली, लड़की को विदाई पर करुण रस से भरे गीत गाने वाली, बन्ने को तेल चढ़ाने-उतारने वाली, बनवाड़े निकालने वाली, सास-ननद के

गीतोंके व्यंग्य-बाणों से बंधने वाली, फाग, खोड़िया, लूर, घूमर, रतवाई, टोकणी, खेड़ड़ा आदि नृत्य करने वाली ग्रामीणाएँ?

कहाँ है हाथ के गंडासे से प्रभात-वेला में चारा काटने वाले, मीलों 'भारकस' दौड़ाने वाले, 'धड़ी' बूरा खाने वाले, नागौरी-लाखा बैलों की 'बरर, बरर, बरर, बरर' करके पूछ मरोड़ने वाले, गाय-भैंसा को टेरेने वाले, महीनों तक 'फलसी' चलाने वाले कोल्हू की 'जोट' भरने वाले, सौ 'मण' अनाज के 'गाहटे में खोट' लगाने वाले, एक हाथ में लाठी चला कर सैकड़ों लोगों का मुकाबला करने वाले, हाली-पाली?

कुश्ती, कबड़ड़ी खेलने वाले छैल गाभरू, काई-डंडा, कुंडल-कसार, खुलिया, पिटठू, गुल्ली डंडा, गद्दी घोड़ी खेलने वाले बालक, पील्ह, झीझर, सांगर, नींबोली, लसोड़े, लेहसुए आदि तोड़कर खाने वाले किशोर, गूल्लर, गोहल, बरमंटी तोड़ने वाले बाल गोपाल, खेत-खलिहान, घर-गितवाड़ जोहड़-तालाब की 'पाल' पर मोर पंख ढूँढ़ने वाले नवयुवक, रात-रात भर सांग देखने वाले रसिया, चौपालों की 'जेह' पर बैठकर रात्रि पर्यन्त सारंगी-चिमटे-डेरू की लय-तान पर झूमने वाले जवां मर्द, आल्हा, साके, पंवार, लोक राग के सुर में सुर मिलाकर गुनगुनाने वाले अनुभवी वृद्ध, निहालदे, ढोला-मारू, लीलो-चमन की लोक गथाएँ सुनकर रोमांचित होने वाले नौजवान, अब कहीं दिखाई नहीं देते।

सभी संस्कारों पर निभाई जाने वाली लोक रस्में और रीति-रिवाज भी अब लुप्त प्राय हो गये हैं। यदि वैवाहिक लोक प्रथाओं को ही देखें तो पता चलेगा कि वे भी अंतिम सांसे गिन रही हैं। सवा महीने का विवाह देना, पन्द्रह दिन का 'लगन' भिजवाना, ग्यारह या सात दिन के बान-तेल-बनवाड़े निकालना, कई दिन पूर्व कढ़ाई चढ़ाना, न्यौता-निंधार निभाना, चार रोटियों की बारात, 'भारकस', कंवर-कलेवा, फेरों के 'सीठने', सालियों के 'छन्न', कांगना-बांधना-खोलना, सूंटकी खेलना, दीये सिलाना, गिदोड़ा बांटना, बारात को 'चबीणी' देना, बहू जिमाना आदि शादी-विवाह के रीति रिवाज हमारे सामने ही पीछे छूट चुके हैं।

अब तो न हींग लगती है न फिटकड़ी और 'चोखा रंग चढ़कर' चट मंगनी पट ब्याह होने लगे हैं शादी से पहले ही दिन लड़के की सगाई होकर उसी दिन 'मेल' हो जाती है तथा अगले दिन फटाक से ब्याह हो जाता है। यही नहीं, बिना बारात और बिना गाजे-बाजे के चूनी ओढ़ा कर भी लाने लगे हैं दुल्हनिया। जो काम सर्व खाप पंचायते नहीं कर पायीं, वह अपने आप होने लगा है, लेकिन दहेज में साइकिल, घड़ी व सोने की अंगूठी के स्थान पर मोटरसाइकिल, कार और अन्य कीमती सामान देने का प्रचलन बढ़ गया है।

जो संयुक्त परिवार का सुख, जो मिलन की खुशी, बिछुड़ने का दुःख जो दादा-दादी से कहानी सुनने का आनंद, जो बांट कर खाने का हर्ष, जो आपसी सद्भाव-सहयोग, जो आंखों की शर्म, जो लोक-लाज का भय, जो 'गांव-गुहाड़' की 'आन-कान' जो अतिथि-सेवा का भाव, जो सुबह-शाम नोहरो-बैठकों में लगने वाली हुक्का-महफिलों का सतत सिलसिला, हरियाणा संस्कृति की 'अदल पहचान' थी वह शनैः शनैः मिटती जा रही है।

निःसन्देह, आज टूट रहे हैं गांव, मर रहा है सबके लिए जीने का भाव। अब न वे लोक परम्पराएँ बची हैं, न लोक मान्यताएँ। न वे ध्यान आकृष्ट करने वाले लोक गीत सुनाई देते हैं, न बारहमासिया। न वे तीज-त्यौहार रहे हैं, न खेल-तमाशे। न वे लम्बी-चौड़ी 'बणिया' रही है न पारम्परिक पेड़। न वे 'चोयल जोहड़' बचे हैं, न 'पाडछों वाले' पनघटी कुएं। ऐसे में ग्रामीण ललनाएँ बनाव-श्रृंगार करके जाएँ तो जाएँ कहाँ? अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा -

“न वे टूम रही, न झूम रही,  
न घाघरे की धूम रही।”

किस-किस सांस्कृतिक बदलाव का नाम ले, किस-किस बदले हुए लोक-व्यवहार का नाम गिनाएँ? सब कुछ तो बदला-बदला सा दिखाई देता है हरियाणा में। जो हरियाणा खाती-लुहार, नाई-ब्राह्मण, तेली-जुलाहा, चमार-कुम्हार और किसान के इर्द गिर्द घूमने के कारण आर्थिक दृष्टि से किसी बाहरी शक्ति पर निर्भर नहीं था, वहीं हर चीज के लिए शहरों पर निर्भर हो रह गया है या फिर गांव में खुली दुकानों के मालिकों के मुंह ताकता रहता है। गांवों को ही शहर की सोच के चलते गांव न तो शहर बन पाए हैं और न ही गांव रहे हैं। ऐसी स्थिति भविष्य में घातक सिद्ध हो सकती है।

हरियाणा के वर्तमान परिदृश्य को देखकर समाज शास्त्रियों की मुख-मुद्राएँ गंभीर हो सकती हैं और यहां की लोक संस्कृति का शोधन-परिशोधन करने वाले कतिपय विद्वान बन्धुओं के चेहरों पर चिन्ता एवं चिन्तन की रेखाएँ उभर सकती हैं, लेकिन तीव्रतम गति से हो रहे इस परिवर्तन को रोक पाना सम्भव दिखाई नहीं देता। इसके एक ही नहीं, अनेक कारण हैं, जो बहरहाल, इन विद्वानों के वश में नहीं हैं। वैसे भी परिवर्तन प्रकृति का नियम है।

माना कि बाजारवाद, उपभोक्तावाद, उपयोगितावाद और मीडिया के माध्यम से चल रही वैश्विक आंधी के कारण हमारा लोक मनोरंजन भी बदलेगा, लोक साहित्य की विविध विधाएँ भी प्रभावित होंगी, लोक संस्कृति के विविध आयाम भी प्रभावित होंगे, लोक कला भी नहीं बच पायेगी, लेकिन इन सभी परिवर्तनों-प्रभावों का कोई स्वस्थ विकल्प तो होना ही चाहिए, वरना, लोक का भाव, सबके लिए जीने का भाव, समष्टि का भाव, दम तोड़ देगा और ऐसी स्थिति बड़ी भयानक होगी। ऐसे भयानक चिह्न इस प्रदेश में दिखाई देने भी लगे हैं।

यदि हरियाणा की लोक संस्कृति के बदलते परिदृश्य के कारणों पर दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि आजादी के बाद और विशेषतः इस प्रदेश के अस्तित्व में आने के बाद आयी औद्योगिक क्रांति से काफी रूप बदलता है इस लोक संस्कृति का। इसमें भी बढ़कर 'मीडिया' ने प्रभावित किया है इस संस्कृति को 'मीडिया' में भी 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया' के अन्तर्गत दूरदर्शन, केबल टीवी, फिल्मों आदि ने तो झकझोर कर रख दिया है इस संस्कृति को।

हरियाणा की जो संस्कृति सदियों में अपनी अस्मिता को बरकरार रखे हुए थी, जो महाभारत के युद्ध के बाद भी विनष्ट नहीं हुई, जिसने जाने कितने विदेशी आक्रांताओं के आगे सीना ताने रखा है, वही आज उपभोक्तावाद का बोझ सहन नहीं कर पा रही है और आधुनिकीकरण के भयंकर प्रकोप से यह संस्कृति हाशिये पर आती जा रही है।

विश्व स्तर पर देखें तो लोक संस्कृतियों का अस्तित्व संकट में हैं, क्योंकि आज विश्व में सार्वभौम संस्कृति की बात की जा रही है। इस उपलक्ष्य में नव साम्राज्यवादी शक्तियां सभी संस्कृतियों को एक रूप कहने और करने का प्रयास कर रही है, जो मानव मात्र के समुचित विकास के लिए ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रयास में लोक-मन अपनी मूल जड़ों से उखड़ कर न घर का रहेगा, न घाट का।

### संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हरियाणा लोक नाट्य परम्परा एवं कवि शिरोमणि पं. मांगेराम, रघुवीर सिंह मथाणा, पृ. 5।
2. हरियाणा संस्कृति एवं कला, डॉ. सन्तराम देशवाल, पृ. 153।
3. वहीं, पृ-154।
4. वहीं, पृ-155।